

धर्मपरीक्षा की परीक्षा

कृत्वा कृतीः पूर्वकृताः पुरस्तात्प्रस्थादरं ताः पुनरीक्षमाणः ।

तथैव जल्पेदय योन्यथा वा स काव्यचोरोऽस्तु स पातकी च॥ -सोमदेवः ।

श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में, श्रीधर्मसागर महोपाध्याय के शिष्य पद्मसागर गणी का बनाया हुआ 'धर्मपरीक्षा' नाम का एक संस्कृत ग्रन्थ है, जिसे, कुछ समय हुआ, सेठ देवचंदलालभाई के जैन पुस्तकोद्धार फंड, बम्बई ने छपाकर प्रकाशित भी किया है। यह ग्रन्थ संवत् १६४५ का बना हुआ है। जैसा कि इसके अंत में दिये हुए निम्न पद्य से प्रकट है—

तद्राज्ये विजयिन्यनन्यमतयः श्रीवाचकाग्रेसरा
द्योतन्ते भुवि धर्मसागरमहोपाध्यायशुद्धा धिया।
तेषां शिष्यकणेन पंचयुगषट्चंद्रांकिते (१६४५) वत्सरे
वेलाकूलपुरे स्थितेन रचितो ग्रन्थोऽयमानन्दतः॥१४८३॥

दिगम्बर जैन सम्प्रदाय में भी 'धर्मपरीक्षा' नाम का एक ग्रन्थ है जिसे श्रीमाधवसेनाचार्य के शिष्य अमितगति नाम के आचार्य ने विक्रम संवत् १०७० में बनाकर समाप्त किया है। यह ग्रन्थ भी छपकर प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ का रचना-संवत्-सूचक अन्तिम पद्य इस प्रकार है—

संवत्सराणां विगते सहस्रे सप्ततौ (१०७०) विक्रमपार्थिवस्य ।

इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं, जिनेन्द्रधर्मामितयुक्तिशास्त्रम्॥२०॥

इन दोनों ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय प्रायः एक है। दोनों में 'मनोवेग' और 'पवनवेग' की प्रधान कथा और उसके अंतर्गत अन्य अनेक उपकथाओं का समान रूप से वर्णन पाया जाता है, बल्कि एक का साहित्य दूसरे के साहित्य से यहाँ तक मिलता जुलता है कि एक को दूसरे की नकल कहना कुछ भी अनुचित न होगा। श्वेताम्बर 'धर्मपरीक्षा' जो इस लेख का परीक्षा विषय है, दिगम्बर 'धर्मपरीक्षा' से ५७५ वर्ष बाद की बनी हुई है। इसलिए यह कहने में कुछ भी संकोच नहीं हो सकता कि पद्मसागर गणी ने अपनी धर्मपरीक्षा अमितगति की 'धर्मपरीक्षा' पर से ही बनाई है और वह प्रायः उसकी नकल मात्र है। इस नकल में पद्मसागर गणी ने अमितगति के आशय, ढंग (शैली) और भावों की ही नकल नहीं की, बल्कि उसके अधिकांश पद्यों की प्रायः अक्षरशः नकल कर डाली है और उस सबको अपनी कृति बनाया है, जिसका खुलासा इस प्रकार है—

पद्मसागर गणी की धर्मपरीक्षा में पद्यों की संख्या कुल १४८४ है। इनमें से चार पद्य प्रशस्ति के और छह पद्य मंगलाचरण तथा प्रतिज्ञा के निकालकर शेष १४७४ पद्यों में से १२६० पद्य ऐसे हैं, जो अमितगति की धर्मपरीक्षा से ज्यों के त्यों उठाकर रखे गये हैं। बाकी रहे २१४ पद्य, वे सब अमितगति के पद्यों पर से कुछ परिवर्तन करके बनाये गये हैं। परिवर्तन प्रायः छन्दोभेद की विशेषता को लिये हुए हैं। अमितगति की धर्मपरीक्षा का पहला परिच्छेद और शेष १९ परिच्छेदों के अंत में कुछ कुछ पद्य

अनुष्टुप् छन्द में न होकर दूसरे ही छंदों में रचे गये हैं। पद्मसागर गणी ने उनमें से जिन जिन पद्यों को लेना उचित समझा है, उन्हें अनुष्टुप् छन्द में बदलकर रख दिया है, और इस तरह पर अपने ग्रन्थ में अनुष्टुप् छंदों की एक लम्बी धारा बहाई है। इस धारा में आपने परिच्छेद-भेद को भी बहा दिया है अर्थात्, अपने ग्रन्थ को परिच्छेद या अध्यायों में विभक्त न करके उसे बिना हॉलिंग स्टेशन वाली एक लम्बी और सीधी सड़क के रूप में बना दिया है!! परन्तु अंत में पाँच पद्यों को उनकी रचना पर मोहित होकर उन्हें सहज में अनुष्टुप् छंद रूप न दे सकने आदि किसी कारण विशेष से, ज्यों का त्यों भिन्न भिन्न छंदों में भी रहने दिया है, जिससे अंत में जाकर ग्रन्थ का अनुष्टुप् छंदी नियम भंग हो गया है। अस्तु; इन पाँचों पद्यों में से पहला पद्य नमूने के तौर पर इस प्रकार है—

इदं व्रतं द्वादशभेदभिन्नं, यः श्रावकीयं जिननाथदृष्टम्।

करोति संसारनिपातभीतः प्रयाति कल्याणमसौ समस्तम्॥१४७६॥

यह पद्य अमितगति परीक्षा के १९वें परिच्छेद में नं० ९७ पर दर्ज है। इस पद्य के बाद एक पद्य और इसी परिच्छेद का देकर तीन पद्य २०वें परिच्छेद से उठाकर रखे गये हैं, जिनके नम्बर उक्त परिच्छेद में क्रमशः ८७, ८८, और ८९ दिये हैं, इस २०वें परिच्छेद के शेष सम्पूर्ण पद्यों को, जिनमें धर्म के अनेक नियमों का निरूपण था, ग्रन्थकर्ता ने छोड़ दिया है। इसी प्रकार दूसरे परिच्छेदों से भी कुछ कुछ पद्य छोड़े गये हैं, जिनमें किसी किसी विषय का विशेष वर्णन था। अमितगति धर्मपरीक्षा की पद्य संख्या कुल १९४१ है जिनमें २० पद्यों की प्रशस्ति भी शामिल है, और पद्मसागर धर्मपरीक्षा की पद्य संख्या प्रशस्ति से अलग १४८० है, जैसा कि ऊपर जाहिर किया जा चुका है। इसलिए सम्पूर्ण छोड़े हुए पद्यों की संख्या लगभग ४४० समझनी चाहिए। इस तरह लगभग ४४० पद्यों को निकालकर, २१४ पद्यों में कुछ छंदादिक का परिवर्तन करके और शेष १२६० पद्यों की ज्यों की त्यों नकल उतारकर ग्रन्थकर्ता श्रीपद्मसागर गणी ने इस ‘धर्मपरीक्षा’ को अपनी कृति बनाने का पुण्य सम्पादन किया है। जो लोग दूसरों की कृति को अपनी कृति बनाने के रूप पुण्य सम्पादन करते हैं उनसे यह आशा रखना तो व्यर्थ है कि वे उस कृति के मूलकर्ता का आदरपूर्वक स्मरण करेंगे, प्रत्युत उनसे जहाँ तक बन पड़ता है, वे उस कृति के मूलकर्ता का नाम छिपाने या मिटाने की चेष्टा किया करते हैं। ऐसा ही यहाँ पर पद्मसागर गणी ने भी किया है। अमितगति का कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करना तो दूर रहा, आपने अपनी शक्तिभर यहाँ तक चेष्टा की है कि ग्रन्थभर में अमितगति का नाम तक न रहने पाये और न दूसरा कोई ऐसा शब्द ही रहने पावे जिससे यह ग्रन्थ स्पष्ट रूप से किसी दिगम्बर जैन की कृति समझ लिया जाये। उदाहरण के तौर पर यहाँ इसके कुछ नमूने दिखलाये जाते हैं—

१. श्रुत्वा वाचमशेषकल्मषमुषां साधोर्गुणाशंसिनीं
नत्वा केवलिपादपंकजयुगं मर्त्यामरेन्द्रार्चितम्।
आत्मानं व्रतरत्नभूषितमसौ चक्रे विशुद्धाशयो॥
भव्यः प्राप्य यतेर्गिरोऽमितगतेर्व्यर्थाः कथं कुर्वते॥१०१॥

यह पद्य अमितगति की धर्मपरीक्षा के १९वें परिच्छेद का अंतिम पद्य है। इसमें मुनिमहाराज का उपदेश सुनकर पवनवेग के श्रावकव्रत धारण करने का उल्लेख करते हुए, चौथे चरण में लिखा है कि “भव्यपुरुष अपरिमित ज्ञान के धारक मुनि के उपदेश को पाकर उसे व्यर्थ कैसे कर सकते हैं।” साथ ही, इस चरण में अमितगति ने अन्यपरिच्छेदों के अंतिम पद्यों के समान युक्तिपूर्वक गुप्तरिति से अपना नाम भी दिया है। पद्मसागर गणी को अमितगति का यह गुप्त नाम भी असह्य हुआ और इसलिए उन्होंने अपनी धर्मपरीक्षा में, इस पद्य को नं० १४७७ पर ज्यों का त्यों उद्धृत करते हुए, इसके अंतिम चरण को निम्न प्रकार से बदल दिया है—

“मित्रादुत्तमतो न किं भुवि नरः प्राप्नोति सद्ब्रह्मस्त्वहो।”

इस तबदीली से प्रकट है कि यह केवल अमितगति का नाम मिटाने की गरज से ही की गई है। अन्यथा, इस परिवर्तन की यहाँ पर कुछ भी जरूरत न थी।

२. त्यक्तबाह्यान्तरग्रन्थों निःकषायो जितेन्द्रियः।

परीषहसहः साधुर्जातरूपधरो मतः॥१८-७६॥

इस पद्य में अमितगति ने साधु का लक्षण ‘जातरूपधरः’ अर्थात् नग्न दिगम्बर बतलाया है। साधु का लक्षण नग्न दिगम्बर प्रतिपादन करने से कहीं दिगम्बर जैनधर्म को प्रधानता प्राप्त न हो जाये, अथवा यह ग्रन्थ किसी दिगम्बर जैन की कृति न समझ लिया जाये, इस भय से गणी जी महाराज ने इस पद्य की कायापलट की है वह इस प्रकार है—

त्यक्तबाह्यान्तरो ग्रन्थो निष्क्रियो विजितेन्द्रियः।

परीषहसहः साधुर्भवाम्भोनिधितारकः॥१३७६॥

यहाँ ‘जातरूपधरो मतः’ के स्थान में ‘भवाम्भोनिधितारकः’ (संसारसमुद्र से पार करने वाला) ऐसा परिवर्तन किया गया है। साथ ही, ‘निःकषायः’ की जगह ‘निष्क्रियः’ भी बनाया गया है, जिसका कोई दूसरा ही रहस्य होगा।

३. कन्ये नन्दासुनन्दाख्ये कच्छस्य नृपतेर्वृषा।

जिनेन योजयामास नीतिकीर्ती इवामले॥१८-१४॥

दिगम्बर सम्प्रदाय में, ऋषभदेव का विवाह राजा कच्छ की नन्दा और सुनन्दा नाम की दो कन्याओं के साथ होना माना जाता है। इसी बात को लेकर अमितगति ने उसका ऊपर के पद्य में उल्लेख किया है। परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय में, ऋषभदेव की स्त्रियों के नामों में कुछ भेद करते हुए, दोनों ही स्त्रियों को राजा कच्छ की पुत्रियाँ नहीं माना है। बल्कि सुमंगला को स्वयं ऋषभदेव के साथ उत्पन्न हुई उनकी सगी बहन बतलाया और सुनन्दा को एक दूसरे युगलिये की बहन बयान किया है जो अपनी बहन के साथ खेलता हुआ अचानक बाल्यावस्था में ही मर गया था। इसलिए पद्मसागर जी ने अमितगति के उक्त पद्य को बदलकर उसे नीचे का रूप दे दिया है, जिससे यह ग्रन्थ दिगम्बर ग्रन्थ न समझा जाकर श्वेताम्बर समझ लिया जाये—

सुमंगलासुनन्दाख्ये कन्ये सह पुरन्दरः ।
जिनेन योजयामास नीतिकीर्ती इवामले॥१३४७॥

इस प्रकार, यद्यपि ग्रन्थकर्ता महाशय ने अमितगति की कृति पर अपना कर्तृत्व और स्वामित्व स्थापित करने और उसे एक श्वेताम्बर ग्रन्थ बनाने के लिए बहुत कुछ अनुचित चेष्टाएँ की हैं, परन्तु तो भी वे इस (धर्मपरीक्षा) ग्रन्थ को पूर्णतया श्वेताम्बर ग्रन्थ नहीं बना सके। बल्कि अनेक पद्यों को निकाल डालने, परिवर्तित कर देने तथा ज्यों का त्यों कायम रखने की वजह से उनकी यह रचना कुछ ऐसी विलक्षण और दोषपूर्ण हो गई है, जिससे ग्रन्थ की चोरी का सारा भेद खुल जाता है। साथ ही, ग्रन्थकर्ता की योग्यता और उनके दिगम्बर तथा श्वेताम्बर धर्म सम्बन्धी परिज्ञान आदि का भी अच्छा परिचय मिल जाता है। पाठकों के सन्तोषार्थ यहाँ इन्हीं सब बातों का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है—

(१) अमितगति धर्मपरीक्षा के पाँचवें परिच्छेद में, ‘वक्र’ नाम के द्विष्ट पुरुष की कथा का वर्णन करते हुए, एक स्थान पर लिखा है जिस समय ‘वक्र’ मरणासन्न हुआ तब उसने अपने ‘स्कन्द’ नामक शत्रु का समूल नाश करने के लिए पुत्र पर अपनी आंतरिक इच्छा प्रकट की और उसे यह उपाय बतलाया कि “जिस समय मैं मर जाऊँ उस समय तुम मुझे मेरे शत्रु के खेत में ले जाकर लकड़ी के सहारे खड़ा कर देना। साथ ही अपने समस्त गाय, भैंस तथा घोड़ों के समूह को उसके खेत में छोड़ देना, जिससे वे उसके समस्त धान्य का नाश कर दें। और तुम किसी वृक्ष या घास की ओट में मेरे पास बैठकर स्कन्द के आगमन की प्रतीक्षा करते रहना। जिस वक्त वह क्रोध में आकर मुझ पर प्रहार करे तब तुम सब लोगों को सुनाने के लिए जोर से चिल्ला उठना और कहना कि स्कन्द ने मेरे पिता को मार डाला है। ऐसा करने पर राजा स्कन्द द्वारा मुझे मरा जानकर स्कन्द को दण्ड देगा, जिससे वह पुत्र सहित मर जायेगा।” इस प्रकरण के तीन पद्य इस प्रकार हैं—

एष यथा क्षयमेति समूलं कंचन कर्म तथा कुरु वत्स ।
येन वसामि चिरं सुरलोके हृष्टमनाः कमनीयशरीरः॥८८॥
क्षेत्रममुष्य विनीय मृतं मां यष्टिनिषण्णतनुं सुत कृत्वा ।
गौमहिषीहयवृन्दमशेषं शस्यसमूहविनाशि विमुञ्च॥८९॥
वृक्षतृणान्तरितो मम तीरे तिष्ठ निरीक्षितुमागतिमस्य ।
कोपपरेण कृते मम घाते पूत्कुरु सर्वजनश्रवणाय॥९०॥

इन तीनों पद्यों के स्थान में पद्मसागर गणी ने अपनी धर्म परीक्षा में निम्नलिखित दो पद्य अनुष्टुप् छन्द में दिये हैं—

समूलं क्षयमेत्येष यथा कर्म तथा कुरु ।
वसामि यत्स्फुरद्देहः स्वर्गे हृष्टमनाः सुखम्॥२८३॥
वृक्षाद्यन्तरितस्तिष्ठ त्वमस्यागतिमीक्षितुम् ।
आयातेऽस्मिन्मृतं हत्वा मां पूत्कुरु जनश्रुतेः॥२८४॥

इन पद्यों का अमितगति के पद्यों के साथ मिलान करने पर पाठकों को सहज में ही यह मालूम हो जायेगा कि दोनों पद्य क्रमशः अमितगति के पद्य नं० ८८ और ९० पर से कुछ छील छालकर बनाये गये हैं और इनमें अमितगति के शब्दों की प्रायः नकल पाई जाती है। परन्तु साथ ही उन्हें यह जानने में भी विलम्ब न होगा कि अमितगति के पद्य नं० ८९ को पद्मसागर जी ने बिल्कुल ही छोड़ दिया है, उसके स्थान में कोई दूसरा पद्य भी बनाकर नहीं रखा। इसलिए उनका पद्य नं० २८४ बड़ा ही विचित्र मालूम होता है। उसमें उस उपाय के सिर्फ उत्तरार्द्ध का कथन है, जो वक्र ने मरते समय अपने पुत्र को बतलाया था। उपाय का पूर्वार्द्ध न होने से यह पद्य इतना असंबद्ध और बेढंगा हो गया है कि प्रकृत कथन से उसकी कुछ भी संगति नहीं बैठती। इसी प्रकार के पद्य और भी अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं, जिनके पहले के कुछ पद्य छोड़ दिये गये हैं और इसलिये वे पर कटे हुए कबूतर के समान लँडूरे मालूम होते हैं।

(२) अमितगति ने अपनी धर्मपरीक्षा के १५वें परिच्छेद में, 'युक्तितो घटते यत्र' इत्यादि पद्य नं० ४७ के बाद, जिसे पद्मसागर जी ने भी अपने ग्रन्थ में नं० १०८९ पर ज्यों का त्यों उद्धृत किया है, नीचे लिखे दो पद्यों द्वारा एक स्त्री के पंच भर्तार होने को अति निंद्य कर्म ठहराया है, और इस तरह पर द्रौपदी के पंचपति होने का निषेध किया है। वे दोनों पद्य इस प्रकार हैं—

सम्बन्धा भुवि विद्यन्ते सर्वे सर्वस्य भूरिशः।

भर्तृणां क्वापि पंचानां नैकया भार्यया पुनः॥४८॥

सर्वे सर्वेषु कुर्वन्ति संविभागं महाधियः।

महिलासंविभागस्तु निन्द्यानामपि निन्दितः॥४९॥

पद्मसागर जी ने यद्यपि इन पद्यों से पहले और पीछे के बहुत से पद्यों की एक दम ज्यों की त्यों नकल कर डाली है, तो भी आपने इन दोनों पद्यों को अपनी धर्मपरीक्षा में स्थान नहीं दिया। क्योंकि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में, हिन्दुओं की तरह, द्रौपदी के पंचभर्तार ही माने जाते हैं। पाँचों पाण्डवों के गले में द्रौपदी ने वरमाला डाली थी और उन्हें अपना पति बनाया था, ऐसा कथन श्वेताम्बरों के 'त्रिशष्टिशलाका-पुरुषचरित' आदि अनेक ग्रन्थों में पाया जाता है। उक्त दोनों पद्यों को स्थान देने से यह ग्रन्थ कहीं श्वेताम्बर धर्म के अहाते से बाहर न निकल जाये, इसी भय से शायद गणीजी महाराज ने उन्हें स्थान देने का साहस नहीं किया। परन्तु पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि गणीजी ने अपने ग्रन्थ में उस श्लोक को ज्यों का त्यों रहने दिया है जो आक्षेप के रूप में ब्राह्मणों के सन्मुख उपस्थित किया गया था और जिसका प्रतिवाद करने के लिए ही अमितगति आचार्य को उक्त दोनों पद्यों के लिखने की जरूरत पड़ी थी। वह श्लोक यह है—

द्रौपद्याः पंच भर्तारः कथ्यन्ते यत्र पाण्डवाः।

जनन्यास्तव को दोषस्तत्र भर्तृद्वये सति॥१७९॥

इस श्लोक में द्रौपदी के पंचभर्तार होने की बात कटाक्ष रूप से कही गई है। जिसका आगे

प्रतिवाद होने की जरूरत थी और जिसे गणीजी ने नहीं किया। यदि गणीजी को एक स्त्री के अनेक पति होना अनिष्ट न था तब आपको अपने ग्रन्थ में यह श्लोक भी रखना उचित न था और न इस विषय की कोई चर्चा ही चलाने की जरूरत थी। परन्तु आपने ऐसा न करके अपनी धर्मपरीक्षा में उक्त श्लोक और उसके सम्बन्ध की दूसरी चर्चा को, बिना किसी प्रतिवाद के ज्यों का त्यों स्थिर रखा है, इसलिए कहना पड़ता है कि आपने ऐसा करके निःसंदेह भारी भूल की है। और इससे आपकी योग्यता तथा विचारशीलता का भी बहुत कुछ परिचय मिल जाता है।

(३) श्वेताम्बरी धर्मपरीक्षा में, एक स्थान पर, ये तीन पद्य दिये हैं—

विलोक्य वेगतः खर्या क्रमस्योपरि मे क्रमः।
 भग्नो मुशलमादाय दत्तनिष्ठुरघातया॥५१५॥
 अथैतयोर्महाराटिः प्रवृत्ता दुर्निवारणा।
 लोकानां प्रेक्षणीभूता राक्षस्योरिव रुष्टयोः॥५१६॥
 अरे! रक्षतु ते पादं त्वदीया जननी स्वयम्।
 रुष्टखर्या निगद्येति पादो भग्नो द्वितीयकः॥५१७॥

इन पद्यों में से पहला पद्य ज्यों का त्यों वही है जो दिगम्बरी धर्मपरीक्षा के ९वें परिच्छेद में नं० २७ पर दर्ज है। दूसरे पद्य में सिर्फ 'इत्थं तयोः' के स्थान में 'अथैतयोः' का और तीसरे पद्य में 'वोडे' के स्थान में 'अरे' और 'रुष्टयक्षर्या' के स्थान में 'रुष्टखर्या' का परिवर्तन किया गया है। पिछले दोनों पद्य दिगम्बरी धर्मपरीक्षा के उक्त परिच्छेद में क्रमशः नं० ३२ और ३३ पर दर्ज हैं। इन दोनों पद्यों से पहले अमितगति ने चार पद्य और दिये थे और जिनमें 'ऋक्षी' तथा 'खरी' नाम की दोनों स्त्रियों के वाग्युद्ध का वर्णन था उन्हें पद्मसागर जी ने अपनी धर्मपरीक्षा से निकाल दिया है। अस्तु और सब बातों को छोड़कर, यहाँ पाठकों का ध्यान उस परिवर्तन की ओर आकर्षित किया जाता है जो 'रुष्टयक्षर्या' के स्थान में 'रुष्टखर्या' बनाकर किया गया है। यह परिवर्तन वास्तव में बड़ा ही विलक्षण है। इसके द्वारा यह विचित्र अर्थ घटित किया गया है कि जिस खरी नाम की स्त्री ने पहले ऋक्षी के उपास्य चरण को तोड़ डाला था उसी ने ऋक्षी को यह चैलेंज देते हुए कि "ले! अब तू और तेरी माँ अपने चरण की रक्षा कर" स्वयं अपने उपास्य दूसरे चरण को भी तोड़ डाला! परन्तु खरी को अपने उपास्य चरण पर क्रोध आने और उसे तोड़ डालने की कोई वजह न थी। यदि ऐसा मान भी लिया जाये तो उक्त चैलेंज में जो कुछ कहा गया है वह सब व्यर्थ पड़ता है। क्योंकि जब खरी ऋक्षी के उपास्य चरण को पहले ही तोड़ चुकी थी, तब उसका ऋक्षी से यह कहना कि "ले! अब तू अपने चरण की रक्षा कर मैं उस पर आक्रमण करती हूँ" बिल्कुल ही भद्दा और असमंजस मालूम होता है। वास्तव में, दूसरा चरण ऋक्षी के द्वारा, अपना बदला चुकाने के लिए, तोड़ा गया था और उसी ने खरी को ललकार कर उपर्युक्त वाक्य कहा था। ग्रन्थकर्ता ने इस पर कुछ भी ध्यान न देकर बिना सोचे समझे वैसे ही परिवर्तन कर डाला, जो बहुत ही भद्दा मालूम होता है।

(४) अमितगति धर्मपरीक्षा के छठे परिच्छेद में, 'यज्ञा' ब्राह्मणी और उसके जारपति 'बटुक' का उल्लेख करते हुए, एक पद्य इस प्रकार से दिया है—

प्रपेदे स वचस्तस्या निःशेषं हृष्टमानसः।

जायेन्ते नेदृशे कार्ये दुष्प्रबोधा हि कामिनः॥४४॥

इस पद्य में लिखा है कि 'उस कामी बटुक ने यज्ञा की आज्ञा को (जो अपने निकल भागने का उपाय करने के लिए दो मुर्दे लाने के विषय में थी) बड़ी प्रसन्नता के साथ पालन किया, सच है कामी पुरुष ऐसे कार्यों में दुष्प्रबोध नहीं होते। अर्थात् वे अपने काम की बात को कठिनता से समझने वाले न होकर शीघ्र समझ लेते हैं। पद्मसागर जी ने यही पद्य अपनी धर्मपरीक्षा में नं० ३१५ पर दिया है परन्तु साथ ही इसके उत्तरार्द्ध को निम्न प्रकार से बदलकर रखा है—

“न जाता तस्य शंकापि दुष्प्रबोधा हि कामिनः॥ ”

इस परिवर्तन के द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'उस बटुक को उक्त आज्ञा के पालन में शंका भी नहीं हुई, सच है कामी लोग कठिनता से समझने वाले होते हैं।' परन्तु बटुक ने तो यज्ञा की आज्ञा को पूरी तौर से समझकर उसे बिना किसी शंका के प्रसन्नता के साथ शीघ्र पालन किया है तब वह कठिनता से समझने वाला 'दुष्प्रबोध' क्यों? यह बात बहुत ही खटकनेवाली है, और इसलिए ऊपर का परिवर्तन बड़ा ही बेढंगा मालूम होता है। नहीं मालूम ग्रन्थकर्ता ने इस परिवर्तन को करके पद्य में कौनसी खूबी पैदा की और क्या लाभ उठाया! इस प्रकार के व्यर्थ परिवर्तन और भी अनेक स्थानों पर पाये जाते हैं जिनसे ग्रन्थकर्ता की योग्यता और व्यर्थाचरण का अच्छा परिचय मिलता है।

श्वेताम्बरशास्त्र-विरुद्ध कथन

(५) पद्मसागर गणी ने, अमितगति के पद्यों की ज्यों की त्यों नकल करते हुए, एक स्थान पर ये दो पद्य दिये हैं—

क्षुधा तृष्णा भयद्वेषौ रागो मोहो मदो गदः।

चिन्ता जन्म जरा मृत्युर्विषादो विस्मयो रतिः॥८९२॥

खेदः स्वेदस्तथा निद्रा दोषाः साधारणा इमे।

अष्टादशापि विद्यन्ते सर्वेषां दुःखहेतवः॥८९३॥

इन पद्यों में उन १८ दोषों का नामोल्लेख है, जिनसे दिगम्बर लोग अर्हन्तदेवों को रहित मानते हैं। उक्त दोषों का, २१ पद्यों में, कुछ विवरण देकर फिर ये दो पद्य और दिये हैं—

एतैर्ये पीडिता दोषैस्तैर्मुच्यन्ते कथं परे।

सिंहानां हतनागानां न खेदोस्ति मृगक्षये॥९१५॥

सर्वे रागिणि विद्यन्ते दोषा नात्रास्ति संशयः।

रूपिणीव सदा द्रव्ये गन्धस्पर्शरसादयः॥९१६॥

इन पद्यों में लिखा है कि “जो देव इन क्षुधादिक दोषों से पीड़ित हैं, वे दूसरों को दुःखों से मुक्त

कैसे कर सकते हैं? क्योंकि हाथियों को मारने वाले सिंहों को मृगों के मारने में कुछ कष्ट नहीं होता। जिस प्रकार पुद्गल द्रव्य में स्पर्श, रस और गंधादिक गुण हमेशा पाए जाते हैं, उसी प्रकार ये सब दोष भी रागी देवों में पाये जाते हैं।” इसके बाद एक पद्य में ब्रह्मादिक देवताओं पर कुछ आक्षेप करके गणीजी लिखते हैं कि “सूर्य से अंधकार के समूह की तरह जिस देवता से ये सम्पूर्ण दोष नष्ट हो गये हैं वही सब देवों का अधिपति अर्थात् देवाधिदेव है और संसारी जीवों के पापों का नाश करने में समर्थ है।” यथा—

एते नष्टा यतो दोषा भानोरिव तमश्चयाः।

स स्वामी सर्वदेवानां पापनिर्दलनक्षमः॥११८॥

इस प्रकार गणीजी महाराज ने देवाधिदेव अर्हन्त भगवान् का १८ दोषों से रहित वह स्वरूप प्रतिपादन किया है जो दिगम्बर सम्प्रदाय में माना जाता है। परन्तु यह स्वरूप श्वेताम्बर सम्प्रदाय के स्वरूप से विलक्षण मालूम होता है, क्योंकि श्वेताम्बरों के यहाँ प्रायः दूसरे ही प्रकार के १८ दोष माने गये हैं। जैसा कि मुनि आत्माराम जी के ‘तत्त्वादर्थ’ में उल्लिखित नीचे लिखे दो पद्यों से प्रकट है—

अंतरायदानलाभवीर्यभोगोपभोगगाः ।

हासो रत्यरती भीतिर्जुगुप्सा शोक एव च॥१॥

कामो मिथ्यात्वमज्ञानं निद्रा च विरतिस्तथा।

रागो द्वेषश्च नो दोषास्तेषामष्टदशाऽप्यमी॥२॥

इन पद्यों में दिये हुए १८ दोषों के नामों में से रति, भीति (भय), निद्रा, राग और द्वेष ये पाँच दोष तो ऐसे हैं जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में समानरूप से माने गये हैं। शेष दानान्तराय, लाभान्तराय, वीर्यान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, हास्य, अरति, जुगुप्सा, शोक, काम, मिथ्यात्व, अज्ञान और विरति नाम के १३ दोष दिगम्बरों के माने हुए क्षुधा, तृषा, मोह, मद, रोग, चिन्ता, जन्म, जरा, मृत्यु, विषाद, विस्मय, खेद और स्वेद नाम के दोषों से भिन्न हैं। इसलिए गणीजी का उपर्युक्त कथन श्वेताम्बर शास्त्रों के विरुद्ध है। मालूम होता है कि अमितगति धर्मपरीक्षा के १३वें परिच्छेद से इन सब पद्यों को ज्यों का त्यों उठाकर रखने की धुन में आपको इस विरुद्धता का कुछ भी भान नहीं हुआ।

(६) एक स्थान पर, पद्मसागर जी लिखते हैं कि ‘कुन्ती से उत्पन्न हुए पुत्र तपश्चरण करके मोक्ष गये और मद्गी के दोनों पुत्र मोक्ष में न जाकर सर्वार्थसिद्धि को गये’। यथा—

कुन्तीशरीरजाः कृत्वा तपो जग्मुः शिवास्पदम्।

मद्गीशरीरजौ भव्यौ सर्वार्थसिद्धिमीयतुः॥१०९५॥

यह कथन यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय की दृष्टि से सत्य है और इसीलिए अमितगति ने अपने ग्रन्थ के १५वें परिच्छेद में इसे नं० ५५ पर दिया है। परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय की दृष्टि से यह कथन भी विरुद्ध है। श्वेताम्बर के ‘पाण्डवचरित्र’ आदि ग्रन्थों में ‘मद्गी’ के पुत्रों का भी मोक्ष जाना लिखा है

और इस तरह पर पाँचों ही पाण्डवों के लिए मुक्ति का विधान किया है।

(७) पद्मसागर जी ने अपनी धर्मपरीक्षा में एक स्थान पर यह पद्य दिया है—

चार्वाकदर्शनं कृत्वा भूपौ शुक्रवृहस्पती।

प्रवृत्तौ स्वेच्छया कर्तुं स्वकीयेन्द्रियपोषणम्॥१३६५॥

इसमें शुक्र और बृहस्पति नाम के दो राजाओं को ‘चार्वाक’ दर्शन का चलाने वाला लिखा है, परन्तु मुनि आत्माराम जी ने, अपने ‘तत्त्वादर्थ’ ग्रन्थ के चौथे परिच्छेद में, ‘शीलतरंगिणी’ नामक किसी श्वेताम्बरशास्त्र के आधार पर, चार्वाक मत की उत्पत्ति विषयक जो कथा दी है उससे यह मालूम होता है कि चार्वाक मत किसी राजा या क्षत्रिय पुरुष के द्वारा न चलाया जाकर केवल बृहस्पति नाम के एक ब्राह्मण द्वारा प्रवर्तित हुआ है, जो अपनी बाल विधवा बहन से भोग करना चाहता था। और इसलिए बहन के हृदय से पाप तथा लोक लज्जा का भय निकालकर अपनी इच्छा पूर्ति की गरज से ही उसने इस मत के सिद्धांत की रचना की थी। इस कथन से पद्मसागर जी का उपर्युक्त कथन भी श्वेताम्बर शास्त्रों के विरुद्ध पड़ता है।

(८) इस श्वेताम्बर ‘धर्मपरीक्षा’ में, पद्य नं० ७८२ से ७९९ तक, गंधे के शिरच्छेद का इतिहास बतलाते हुए, लिखा है कि—

“ज्येष्ठा के गर्भ से उत्पन्न हुआ शंभु (महादेव) सात्यकि का बेटा था। घोर तपश्चरण करके उसने बहुत-सी विद्याओं का स्वामित्व प्राप्त किया था। विद्याओं के वैभव को देखकर वह दसवें वर्ष में भ्रष्ट हो गया। उसने चारित्र (मुनिधर्म) को छोड़कर विद्याधरों की आठ कन्याओं से विवाह किया। परन्तु वे विद्याधरों की आठों ही पुत्रियाँ महादेव के साथ रति कर्म करने में समर्थ न हो सकी और मर गई। तब महादेव ने पार्वती को रतिकर्म में समर्थ समझकर उसकी याचना की और उसके साथ विवाह किया। एक दिन पार्वती के साथ भोग करते हुए उसकी ‘त्रिशूल’ विद्या नष्ट हो गई। उसके नष्ट होने पर वह ‘ब्राह्मणी’ नाम की दूसरी विद्या को सिद्ध करने लगा। जब वह ‘ब्राह्मणी’ विद्या की प्रतिमा को सामने रखकर जप कर रहा था तब उस विद्या ने अनेक प्रकार की विक्रिया करनी शुरू की। उस विक्रिया के समय जब महादेव ने एक बार उस प्रतिमा पर दृष्टि डाली तो उसे प्रतिमा के स्थान पर एक चतुर्मुखी मनुष्य दिखलाई पड़ा, जिसके मस्तक पर गंधे का सिर था। उस गंधे के सिर को बढ़ता हुआ देखकर उसने शीघ्रता के साथ उसे काट डाला। परन्तु वह सिर महादेव के हाथ में चिपट गया, नीचे नहीं गिरा। तब ब्राह्मणी विद्या महादेव की साधना को व्यर्थ करके चली गई। इसके बाद रात्रि को महादेव ने श्रीवर्धमानस्वामी को श्मशान भूमि में ध्यानारूढ़ देखकर और उन्हें विद्यारूपी मनुष्य समझकर उन पर उपद्रव किया। प्रातःकाल जब उसे यह मालूम हुआ कि वे श्रीवर्धमान जिनेन्द्र थे तब उसे अपनी कृति पर बहुत पश्चाताप हुआ। उसने भगवान् की स्तुति की और उनके चरण छुए। चरणों को छूते ही उसके हाथ से चिपटा हुआ वह गंधे का सिर गिर पड़ा।”

यह सब कथन श्वेताम्बर शास्त्रों के बिल्कुल विरुद्ध है। श्वेताम्बरों के ‘आवश्यक’ सूत्र में

महादेव की जो कथा लिखी है और जिसको मुनि आत्माराम जी ने अपने 'तत्त्वादर्थ' नामक ग्रन्थ के १२वें परिच्छेद में उद्धृत किया है उससे यह सब कथन बिल्कुल ही विलक्षण मालूम होता है। उसमें महादेव (महेश्वर) के पिता का नाम 'सात्यकि' न बतलाकर स्वयं महादेव का ही असली नाम 'सात्यकि' प्रकट किया है और पिता का नाम 'पेढाल' परिव्राजक बतलाया है। लिखा है कि, 'पेढाल' ने अपनी विद्याओं का दान करने के लिए किसी ब्रह्मचारिणी से एक पुत्र उत्पन्न करने की जरूरत समझकर 'ज्येष्ठा' नाम की साध्वी से व्यभिचार किया और उससे सात्यकि नाम के महादेव पुत्र को उत्पन्न करके उसे अपनी सम्पूर्ण विद्याओं का दान कर दिया। साथ ही, यह भी लिखा है कि "वह सात्यकि नाम का महेश्वर महावीर भगवान् का अविरतसम्यग्दृष्टि श्रावक था"। इसलिए उसने किसी चारित्र का पालन किया, मुनि दीक्षा ली, घोर तपश्चरण किया और उससे भ्रष्ट हुआ, इत्यादि बातों का उसके साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है। महादेव ने विद्याधरों की आठ कन्याओं से विवाह किया, वे मर गईं, तब पार्वती से विवाह किया, पार्वती से भोग करते समय त्रिशूल विद्या नष्ट हो गई, उसके स्थान में ब्राह्मणी विद्या को सिद्ध करने की चेष्टा की गई, विद्या की विक्रिया, गधे के सिर का हाथ से चिपट जाना और फिर उसका वर्धमान स्वामी के चरण छूने पर छूटना, इन सब बातों का भी वहाँ कोई उल्लेख नहीं है। इनके स्थान में लिखा है कि "महादेव बड़ा कामी और व्यभिचारी था, वह अपनी विद्या के बल से जिस किसी की कन्या या स्त्री से चाहता था विषय-सेवन कर लेता था, लोग उसकी विद्या के भय से कुछ बोल नहीं सकते थे, जो कोई बोलता था उसे वह मार डालता था" इत्यादि। अंत में यह भी लिखा है कि "उमा (पार्वती) एक वेश्या थी, महादेव उस पर मोहित होकर उसी के घर रहने लगा था। और 'चंद्रप्रद्योत' नाम के राजा ने, उमा से मिलकर और उसके द्वारा यह भेद मालूम करके कि भोग करते समय महादेव की समस्त विद्याएँ उससे अलग हो जाती हैं, महादेव को उमासहित भोगमग्नावस्था में अपने सुभटों द्वारा मरवा डाला था और इस तरह नगर का उपद्रव दूर किया था"। इसके बाद महादेव की उसी भोगावस्था की पूजा प्रचलित होने का कारण बतलाया है। इससे पाठक भले प्रकार समझ सकते हैं कि पद्मसागर जी गणी का उपर्युक्त कथन श्वेताम्बर शास्त्रों के इस कथन से कितना विलक्षण और विभिन्न है और वे कहाँ तक इस धर्मपरीक्षा को श्वेताम्बर का रूप देने में समर्थ हो सके हैं। गणीजी ने बिना सोचे समझे ही यह सब प्रकरण दिगम्बर धर्मपरीक्षा के १२वें परिच्छेद से ज्यों का त्यों नकल कर डाला है। सिर्फ एक पद्य नं० ७८४ में 'पूर्व' के स्थान में 'वर्ष' का परिवर्तन किया है। अमितगति ने 'दशमे पूर्व' इस पद के द्वारा महादेव को दशपूर्व का पाठी सूचित किया था। परन्तु गणी जी को अमितगति के इस प्रकरण की सिर्फ इतनी ही बात पसंद नहीं आई और इसलिए उन्होंने उसे बदल डाला है।

(९) पद्मसागर जी, अपनी धर्मपरीक्षा में, जैन शास्त्रानुसार 'कर्णराज' की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि—

“एक दिन व्यास राजा के पुत्र पाण्डु को वन में क्रीड़ा करते हुए किसी विद्याधर की

‘काममुद्रिका’ नाम की एक अंगूठी मिली। थोड़ी देर में उस अंगूठी का स्वामी चित्राङ्ग नाम का विद्याधर अपनी अंगूठी को ढूँढ़ता हुआ वहाँ आ गया। पाण्डु ने उसे उसकी वह अंगूठी दे दी। विद्याधर पाण्डु की इस प्रकार निःस्पृहता को देखकर बन्धुत्वभाव को प्राप्त हो गया और पाण्डु को कुछ विषण्णचित्त जानकर उसका कारण पूछने लगा। इस पर पाण्डु ने कुन्ती से विवाह करने की अपनी उत्कट इच्छा और उसके न मिलने को अपने विषाद का कारण बतलाया। यह सुनकर उस विद्याधर ने पाण्डु को अपनी वह काममुद्रिका देकर कहा कि इसके द्वारा तुम कामदेव का रूप बनाकर कुन्ती का सेवन करो, पीछे गर्भ रह जाने पर कुन्ती का पिता तुम्हारे ही साथ उसका विवाह कर देगा। पाण्डु काममुद्रिका को लेकर कुन्ती के घर गया और बराबर सात दिन तक कुन्ती के साथ विषय सेवन करके उसने उसे गर्भवती कर दिया। कुन्ती की माता को जब गर्भ का हाल मालूम हुआ तब उसने गुप्त रूप से प्रसूति कराई और प्रसव हो जाने पर बालक को एक मंजूषा में बन्द करके गंगा में बहा दिया। गंगा में बहता वह मंजूषा चंपापुर के राजा ‘आदित्य’ को मिला, जिसने उस मंजूषा में से उक्त बालक को निकालकर उसका नाम ‘कर्ण’ रखा और अपने कोई पुत्र न होने के कारण बड़े ही हर्ष और प्रेम के साथ उसका पालन-पोषण किया। आदित्य के मरने पर वह बालक चम्पापुर का राजा हुआ। चूँकि ‘आदित्य’ नाम के राजा ने कर्ण का पालन पोषण करके उसे वृद्धि को प्राप्त किया था इसलिए कर्ण ‘आदित्यज’ कहलाता है, वह ज्योतिष्क जाति के सूर्य का पुत्र कदापि नहीं है।^१

पद्मसागर जी का यह कथन भी श्वेताम्बर शास्त्रों के प्रतिकूल है। श्वेताम्बरों के श्रीदेव विजयगणिविरचित ‘पांडवचरित्र’ में पाण्डु को राजा ‘विचित्रवीर्य’ का पुत्र लिखा है और उसे ‘मुद्रिका’ देने वाले विद्याधर का नाम ‘विशालाक्ष’ बतलाया है। साथ ही यह भी लिखा है कि ‘वह विद्याधर अपने किसी शत्रु के द्वारा एक वृक्ष के नितम्ब में लोहे की कीलों से कीलित था। पाण्डु ने उसे देखकर उसके शरीर से वे लोहे की कीलें खींचकर निकाली, चंदनादिक के लेप से उसे सचेत किया और उसके घावों को अपनी मुद्रिका के रत्नजल से धोकर अच्छा किया। इस उपकार के बदले में विद्याधर ने पाण्डु को, उसकी चिन्ता मालूम करके, अपनी एक अंगूठी दी और कहा कि, यह अंगूठी स्मरण मात्र से सब मनोवांछित कार्यों को सिद्ध करने वाली है, इसमें अदृश्यीकरण आदि अनेक महान् गुण हैं। पाण्डु ने घर पर आकर उस अंगूठी से प्रार्थना की कि ‘हे अंगूठी! मुझे कुन्ती के पास ले चल,’ अंगूठी ने उसे कुन्ती के पास पहुँचा दिया। उस समय कुन्ती, यह मालूम करके कि उसका विवाह पाण्डु के साथ नहीं होता है, गले में फाँसी डालकर मरने के लिए अपने उपवन में एक अशोक वृक्ष के नीचे लटक रही थी। पाण्डु ने वहाँ पहुँचते ही गले से उसकी फाँसी काट डाली और कुन्ती के सचेत तथा परिचित हो जाने पर उसके साथ भोग किया। उस एक दिन के भोग से कुन्ती को गर्भ रह गया। बालक का जन्म होने पर धात्री की सम्मति से कुन्ती ने उसे मंजूषा में रखकर गंगा में बहा

१. यह सब कथन नं० १०४९ से १०९० तक के पद्यों में वर्णित है और अमितगति धर्मपरीक्षा के १५वें परिच्छेद से उठाकर रखा गया है।

दिया। कुन्ती की माता को, कुन्ती की आकृति आदि देखकर, पूछने पर पीछे से इस कृत्य की खबर हुई। वह मंजूषा 'अतिरथि' नाम के एक सारथि को मिला, जिसने बालक को उसमें से निकालकर उसका नाम 'कर्ण' रखा। चूँकि उस सारथि की स्त्री को मंजूषा मिलने के उसी दिन प्रातःकाल, स्वप्न में आकर सूर्य ने यह कहा था कि हे वत्स! आज तुझे एक उत्तम पुत्र की प्राप्ति होगी। इसलिए सूर्य का दिया हुआ होने से बालक का दूसरा नाम 'सूर्यपुत्र' भी रखा गया।

श्वेताम्बरीय पांडवचरित्र के इस सम्पूर्ण कथन से पद्मसागरजी के पूर्वोक्त कथन का कहाँ तक मेल है और वह कितना सिर से पैर तक विलक्षण है, इसे पाठकों को बतलाने की जरूरत नहीं है। वे एक नजर डालते ही दोनों की विभिन्नता मालूम कर सकते हैं। अस्तु; इसी प्रकार के और भी अनेक कथन इस धर्मपरीक्षा में पाए जाते हैं जो दिगम्बर शास्त्रों के अनुकूल तथा श्वेताम्बर शास्त्रों के प्रतिकूल हैं और जिनसे ग्रन्थकर्ता की साफ चोरी पकड़ी जाती है।

ऊपर के इन सब विरुद्ध कथनों से पाठकों के हृदय में आश्चर्य के साथ यह प्रश्न उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा कि “जब गणीजी महाराज एक दिगम्बर ग्रन्थ को श्वेताम्बर ग्रन्थ बनाने के लिए प्रस्तुत हुए थे तब आपने श्वेताम्बर शास्त्रों के विरुद्ध इतने अधिक कथनों को उसमें क्यों रहने दिया? क्यों उन्हें दूसरे कथनों की समान, जिनका दिग्दर्शन इस लेख के शुरू में कराया गया है, नहीं निकाल दिया या नहीं बदल दिया? उत्तर इस प्रश्न का सीधा सादा यही हो सकता है कि या तो गणीजी को श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों पर पूरी श्रद्धा नहीं थी, अथवा उन्हें उक्त सम्प्रदाय के ग्रन्थों का अच्छा ज्ञान नहीं था। इन दोनों बातों में से पहली बात बहुत कुछ संदिग्ध मालूम होती है और उस पर प्रायः विश्वास नहीं किया जा सकता। क्योंकि गणीजी की यह कृति ही उनकी श्वेताम्बर सम्प्रदाय-भक्ति और साम्प्रदायिक मोहमुग्धता का एक अच्छा नमूना जान पड़ती है और इससे आपकी श्रद्धा का बहुत कुछ पता लग जाता है। इसलिये दूसरी बात ही प्रायः सत्य मालूम होती है। श्वेताम्बर ग्रन्थों से अच्छी जानकारी न होने के कारण ही आपको यह मालूम नहीं हो सका कि उपर्युक्त कथन तथा इन्हीं के सदृश और दूसरे कथन भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विरुद्ध हैं, और इसलिए आप उनको निकाल नहीं सके। जहाँ तक मैं समझता हूँ पद्मसागरजी की योग्यता और उनका शास्त्रीय ज्ञान बहुत साधारण था। वे श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अपने आपको विद्वान् प्रसिद्ध करना चाहते थे, और इसलिए उन्होंने एक दूसरे विद्वान् की कृति को अपनी कृति बनाकर उसे भोले समाज में प्रचलित किया है। नहीं तो, एक अच्छे विद्वान् की ऐसे जघन्याचरण में कभी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। उसके लिए ऐसा करना बड़े ही कलंक और शर्म की बात होता है। पद्मसागर जी ने, यद्यपि यह पूरा ही ग्रन्थ चुराने का साहस किया है और इसलिए आप पर कवि की यह उक्ति बहुत ठीक घटित होती है कि ‘अखिलप्रबंधहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तुभ्यं’, परन्तु तो भी आप, शर्म को उतारकर अपने मुँह पर हाथ फेरते हुए, बड़े अभिमान के साथ लिखते हैं कि—

गणेशनिर्मितां धर्मपरीक्षां कर्तुमिच्छति।
 मादृशोऽपि जनस्तत्र चित्रं तत्कुलसंभवात्॥४॥
 यस्तरुर्भज्यते हस्तिवरेण स कथं पुनः।
 कलभेनेति नाशंक्यं तत्कुलीनत्वशक्तितः॥५॥
 चक्रे श्रीमत्प्रवचनपरीक्षा धर्मसागरैः।
 वाचकेन्द्रैस्ततस्तेषां शिष्येणैषा विधीयते॥६॥

अर्थात्—गणधर देव की निर्माण की हुई धर्मपरीक्षा को मुझ जैसा मनुष्य भी यदि बनाने की इच्छा करता है तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि मैं भी उसी कुल में उत्पन्न हुआ हूँ। जिस वृक्ष को एक गजराज तोड़ डालता है उसे हाथी का बच्चा कैसे तोड़ डालेगा, यह आशंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि स्वकीय कुलशक्ति से वह भी उसे तोड़ डाल सकता है। मेरे गुरु धर्मसागर जी वाचकेन्द्र ने ‘प्रवचन परीक्षा’ नाम का ग्रन्थ बनाया है और मैं उनका शिष्य यह ‘धर्मपरीक्षा’ नाम का ग्रन्थ रचता हूँ। इस प्रकार पद्मसागर जी ने बड़े अहंकार के साथ अपना ग्रन्थकर्तृत्व प्रकट किया है। परन्तु आपकी इस कृति को देखते हुए कहना पड़ता है कि आपका यह कोरा और थोथा अहंकार विद्वानों की दृष्टि में केवल हास्यास्पद होने के सिवाय और कुछ भी नहीं है। यहाँ पाठकों पर अमितगति का वह पद्य भी प्रकट किया है, जिसको बदलकर ही गणीजी ने ऊपर के दो श्लोक (नं० ४-५) बनाए हैं—

धर्मो गणेशेन परीक्षितो यः कथं परीक्षे तमहं जडात्मा।
 शक्तो हि यं भक्तुमिभाधिराजः स भज्यते किं शशकेन वृक्षः॥१५॥

इस पद्य में अमितगति आचार्य, अपनी लघुता प्रकट करते हुए लिखते हैं कि—जो धर्म गणधरदेव के द्वारा परीक्षा किया गया है वह मुझ जडात्मा से कैसे परीक्षा किया जा सकता है? जिस वृक्ष को गजराज तोड़ डालने में समर्थ है क्या उसे शशक भंग कर सकते हैं? इसके बाद दूसरे पद्य में लिखा है— “परन्तु विद्वान् मुनीश्वरों ने जिस धर्म में प्रवेश करके उसके प्रवेशमार्ग को सरल कर दिया है उसमें मुझ जैसे मूर्ख का प्रवेश हो सकता है, क्योंकि वज्रसूची से छेद किये जाने पर मुक्तामणि में सूत का नरम डोरा भी प्रवेश करते देखा जाता है।” पाठकगण! देखा, कैसी अच्छी उक्ति और कितना नम्रतामय भाव है। कहाँ मूलकर्ता का यह भाव और कहाँ उसको चुराकर अपनी कृति बनाने वाले का उपर्युक्त अहंकार! मैं समझता हूँ यदि पद्मसागर जी इसी प्रकार का कोई नम्र भाव प्रकट करते तो उनकी शान में कुछ भी फर्क न आता। परन्तु मालूम होता है कि आपमें इतनी भी उदारता नहीं थी और तभी आपने, साधु होते हुए भी, दूसरों की कृति को अपनी कृति बनाने रूप यह असाधु कार्य किया है!!

इसी तरह पर और भी कितने ही ग्रन्थ श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जाली तथा अर्धजाली पाए जाते हैं, जिन सबकी जाँच, परीक्षा तथा समालोचना होने की जरूरत है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के निष्पक्ष

३०२ :: ग्रन्थ परीक्षा

विद्वानों को आगे आकर इसके लिये खास परिश्रम करना चाहिए और वैसे ग्रन्थों के विषय में यथार्थ वस्तुस्थिति को समाज के सामने रखना चाहिए। ऐसा किया जाने पर विचार स्वातंत्र्य फैलेगा, विवेक जागृत होगा और वह साम्प्रदायिकता तथा अंधी श्रद्धा दूर हो सकेगी जो जैन समाज की प्रगति को रोके हुए हैं। इत्यलम्।

बम्बई।

ता. ८ अगस्त सन् १९१७।

